SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

जाति, क़ानून और सामाजिक न्यायः बिहार के बदलते समाजशास्त्रीय परिदृश्य की चुनौतियाँ

अजीत कुमार, पी–एचडी., समाजशास्त्र विभाग
एस.एम. कॉलेज, भागलपुर, बिहार, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Author
अजीत कुमार, पी–एचडी.
E-mail : ajitkr.kumar@gmail.com

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 15/07/2025
Revised on : 16/09/2025
Accepted on : 25/09/2025
Overall Similarity : 00% on 17/09/2025

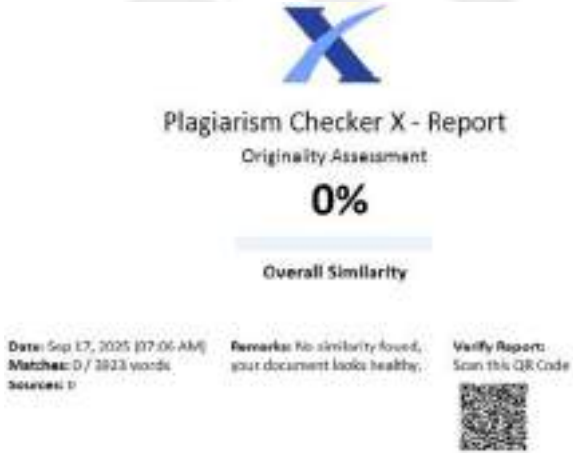

शोध सार

प्रस्तुत लेख बिहार की बदलती सामाजिक–राजनीतिक परिस्थितियों में जाति, कानून और सामाजिक न्याय के बीच के जटिल सम्बन्धों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसका प्राथमिक उद्देश्य इस विरोधाभास की पड़ताल करना है कि एक ओर सामाजिक न्याय हासिल करने के लिए एक मजबूत संवैधानिक और कानूनी ढाँचा मौजूद है, वहीं दूसरी ओर जातिगत असमानता और हिंसा की वास्तविकता लगातार बनी हुई है और नए रूप ले रही है। लेख के केन्द्रीय प्रश्न यह पता लगाना हैं कि कानून एक मुक्ति के साधन के साथ–साथ राजनीतिक प्रतिस्पर्धा का एक क्षेत्र कैसे बन गया है और बिहार के समाजशास्त्रीय परिदृश्य में आने वाली नई चुनौतियाँ क्या हैं। यह लेख एक बहु–स्तरीय दृष्टिकोण अपनाता है, जिसमें ऐतिहासिक विश्लेषण, कानूनी प्रावधानों की समीक्षा, और समकालीन राजनीतिक–सामाजिक घटनाक्रमों की व्याख्या शामिल है। इसे ग्राम्स्की के 'वर्चस्व', बोर्दियो के 'प्रतीकात्मक हिंसा' और अंबेडकर के 'जाति–उन्मूलन' जैसे सैद्धांतिक ढाँचों से समृद्ध किया गया है। लेख के प्रमुख निष्कर्ष बताते हैं कि बिहार में सामाजिक न्याय का संघर्ष अब सिर्फ सवर्ण बनाम दलित/ओबीसी के द्विआधारी ढाँचे तक सीमित नहीं रह गया है। 2023 की जाति जनगणना ने ओबीसी समूह के भीतर ही नई राजनीतिक उथल–पुथल पैदा कर दी है, जहाँ EBC/MBC जातियाँ अब यादवों के वर्चस्व को चुनौती दे रही हैं। इसके अलावा, न्यायपालिका द्वारा सामाजिक न्याय के कानूनों (जैसे POA Act) की व्याख्या और उनके क्रियान्वयन में एक गहरी खाई है, जिसके चलते कानून का वास्तविक प्रभाव सीमित हो जाता है। इस लेख की व्यापक प्रासंगिकता यह है कि यह केवल बिहार तक ही सीमित नहीं है, बल्कि भारत में सामाजिक न्याय की समग्र

परियोजना पर प्रकाश डालता है। यह नीति निर्माताओं के लिए इस बात पर विचार का आधार प्रस्तुत करता है कि केवल कानून बना देने भर से काम नहीं चलता, बल्कि उसके क्रियान्वयन, पुलिस–न्यायालयीन सुधारों और अंतर्विच्छेदी उत्पीड़न (Intersectional Oppression) को संबोधित करने की आवश्यकता है। भविष्य के शोध के लिए यह एक आधार तैयार करता है कि जाति जनगणना के बाद आरक्षण की राजनीति किस दिशा में जाएगी और जातिगत भेदभाव के नए शहरी रूपों से कैसे निपटा जी है।

मुख्य शब्द

जाति, कानून, सामाजिक न्याय, बिहार, दलित.

परिचय

बिहार में कानून और जाति का विवादित क्षेत्र

बिहार के नवादा ज़िले में साल 2023 की एक घटना ने एक कड़वी सच्चाई को फिर से उजागर कर दिया। एक दलित युवक पर सवर्ण जाति के लोगों ने इसलिए हमला बोल दिया क्योंकि उसने एक ऐतिहासिक मंदिर के प्रांगण में प्रवेश करने की हिम्मत की थी। यह घटना तब घटी जब बिहार सरकार ने जाति आधारित गणना का ऐतिहासिक आँकड़ा जारी किया था, जो सामाजिक न्याय की नई बहस की माँग कर रहा था।[1] एक तरफ तो संवैधानिक कानून अस्पृश्यता को ख़त्म करने की बात करते हैं, वहीं दूसरी तरफ ज़मीनी हकीकत यह है कि जाति की दीवारें आज भी कितनी ऊँची और मज़बूत हैं। यह विरोधाभास बिहार के सामाजिक न्याय के संघर्ष की कहानी का सार है।

यह आलेख एक मूलभूत समस्या की पड़ताल करता है। बिहार में सामाजिक न्याय के लिए एक मज़बूत कानूनी–संस्थागत ढाँचा मौजूद होने के बावजूद जाति–आधारित असमानता और हिंसा का सिलसिला लगातार और नए रूपों में क्यों जारी है? संविधान में मौलिक अधिकारों की गारंटी दी गई है, अस्पृश्यता अधिनियम (1955) और एससी/एसटी (अत्याचार निवारण) अधिनियम (1989) जैसे विशिष्ट कानून बने हैं, फिर भी दलितों और पिछड़े वर्गों के खिलाफ अत्याचार के मामले थमते नहीं दिख रहे।[2] यह विरोधाभास इस बात का संकेत है कि कानून का अस्तित्व अपने आप में पर्याप्त नहीं है; उसके क्रियान्वयन और समाज द्वारा स्वीकार्यता को लेकर गहरे सवाल मौजूद हैं।

इस लेख का केंद्रीय तर्क यह है कि बिहार का सामाजिक परिदृश्य एक गतिशील अखाड़ा है, जहाँ कानून मुक्ति का एक औज़ार भी है और साथ ही राजनीतिक प्रतिस्पर्धा का एक मैदान भी। यहाँ नए चुनौतियाँ उभर रही हैं, जैसे पिछड़े वर्गों के भीतर ही नए जातिगत दरारें (जैसे ओबीसी बनाम ईबीसी), सामाजिक न्याय से जुड़े कानूनों की न्यायिक व्याख्याओं पर बहस, और जातिगत पहचान के दावे करने के नए तरीके। आनंद तेलतुम्बड़े जैसे विद्वानों ने तर्क दिया है कि भारत एक "जाति गणराज्य" है, जहाँ कानूनी प्रावधानों के बावजूद जाति की व्यवस्था लगातार बनी हुई है और नए रूप ले रही है।[3]

इस तर्क को विकसित करने के लिए, यह लेख पहले बिहार में जाति के ऐतिहासिक आधार और सामाजिक आंदोलनों (जगदेव प्रसाद, कर्पूरी ठाकुर, मंडल आयोग) की पड़ताल करेगा।[4] फिर, यह सामाजिक न्याय के लिए बने कानूनी ढाँचे (जैसे POA Act) और उसके क्रियान्वयन में आने वाली बाधाओं का विश्लेषण करेगा। इसके बाद, यह लेख उभरती हुई चुनौतियों, जैसे 2023 की जाति गणना के राजनीतिक निहितार्थ, न्यायपालिका की भूमिका, और शहरी क्षेत्रों में जातिगत भेदभाव के नए स्वरूपों पर चर्चा करेगा। अंत में, यह लेख इस बात पर विचार करेगा कि क्या कानून बिहार की गहरी जड़ों वाली जातिगत व्यवस्था को बदल पाने में सक्षम है।

ऐतिहासिक आधारः जाति, ज़मीन और संघर्ष की जड़ें

1. कृषि–आधारित जाति व्यवस्था

A. संरचना और वर्चस्वः बिहार की पारंपरिक सामाजिक संरचना एक कठोर जातिगत पिरामिड थी, जिसकी बुनियाद जमीन से जुड़ी हुई थी। इस पिरामिड के शीर्ष पर ब्राह्मण, भुमिहार और राजपूत जैसी सवर्ण जातियाँ थीं, जिनका सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक वर्चस्व बेरोकटोक था।[5] नीचे की ओर यादव, कुर्मी और

कोइरी जैसी मध्यवर्ती जातियाँ आती थीं, जो खेती–बाड़ी से जुड़ी थीं लेकिन उनकी स्थिति सवर्णों जैसी नहीं थी। सबसे निचले पायदान पर दलित (मुसहर, चमार, दुसाध) और अति पिछड़ा वर्ग (ईबीसी) के लोग थे, जो बेबसी से जमींदारों के खेतों में मजदूरी करते थे और सदियों से चली आ रही सामाजिक वंचना और छुआछूत का शिकार थे। यह व्यवस्था सिर्फ एक सामाजिक दर्जे का सवाल नहीं थी, बल्कि आर्थिक गुलामी का एक ऐसा चक्र थी जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी चलता रहता था।

B. सत्ता का भौतिक आधारः इस सामाजिक वर्चस्व की असली ताकत जमीन पर कब्जे से आती थी। जमींदारी प्रथा ने सवर्ण जातियों को कानूनी तौर पर भूमि का मालिक बना दिया था, जबकि असली खेती करने वाले किसान महज बंधुआ मजदूर बनकर रह गए थे। 'बेगार' यानी बिना मजदूरी के जबरन काम कराना, इस शोषण का एक आम तरीका था।[6] ज़मीन पर नियंत्रण ही सामाजिक हैसियत तय करता था। 1950 में बिहार भूमि सुधार अधिनियम लाकर जमींदारी प्रथा को ख़त्म करने की कोशिश की गई, लेकिन इसका क्रियान्वयन अधूरा और कमजोर रहा। जमींदारों ने तरह–तरह की चालें चलकर अपनी ज्यादातर जमीन बचा ली।[7] इस अधूरे सुधार का नतीजा यह हुआ कि जातिगत हिंसा और संघर्ष का एक बड़ा कारण आज भी जमीन से जुड़े झगड़े ही हैं।

2. पुराने दर्जे को चुनौतीरू विचारधारा और राजनीतिक जुटान

A. फुले और पेरियार का प्रभावः बिहार में जाति व्यवस्था के खिलाफ बौद्धिक आंदोलन की नींव महाराष्ट्र के ज्योतिराव फुले और तमिलनाडु के पेरियार जैसे दिग्गजों के विचारों से पड़ी। हालाँकि उनकी सीधी पहुँच सीमित थी, लेकिन 'सत्यशोधक समाज' और 'आत्मसम्मान आंदोलन' जैसे उनके विचार बिहार के बुद्धिजीवियों और सुधारवादियों के बीच पहुँचने लगे थे। इन विचारों ने ब्राह्मणवाद की जड़ों पर हमला बोला और शूद्रों–अतिशूद्रों को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करने का काम किया।[8] इसने एक ऐसी बौद्धिक जमीन तैयार की जिस पर भविष्य में होने वाले राजनीतिक आंदोलन खड़े हुए।

B. क्रांतिकारी प्रतिरोधः नक्सलवादी आंदोलनः 1960 और 70 के दशक में, मार्क्सवादी विचारधारा ने जातिगत उत्पीड़न के खिलाफ एक नया और जुझारू रास्ता पेश किया। जगदेव प्रसाद जैसे नेता, जो खुद एक निम्न जाति से ताल्लुक रखते थे, ने जाति के सवाल को वर्ग संघर्ष के नज़रिए से देखना शुरू किया। कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्सवादी–लेनिनवादी) यानी सीपीआई–एमएल ने बिहार के दलित और गरीब किसानों को संगठित करके सशस्त्र संघर्ष का रास्ता अपनाया।[9] यह आंदोलन मध्य बिहार के इलाकों में सबसे तेज था, जहाँ दलित मजदूरों ने जमींदारों के खिलाफ हिंसक विद्रोह किया। इसने सवर्ण वर्चस्व को सीधे–सीधे चुनौती दी और सामाजिक न्याय की लड़ाई में हिंसा को एक हथियार के तौर पर शामिल कर दिया।

C. चुनावी रास्ताः कर्पूरी ठाकुर और मंडल राजनीतिः नक्सलवादी हिंसा के समानांतर, एक और धारा विकसित हो रही थी – लोकतांत्रिक और चुनावी राजनीति के जरिए बदलाव लाने की। इसके सबसे बड़े नायक थे कपूरी ठाकुर। 1970 के दशक में मुख्यमंत्री रहते हुए, उन्होंने ओबीसी और ईबीसी के लिए आरक्षण में 'लेयर्ड फॉर्मूला' यानी स्तरीकृत कोटा प्रणाली लागू की।[10] यह एक क्रांतिकारी कदम था जिसने पिछड़े वर्गों की अलग–अलग श्रेणियों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति को पहचाना। कर्पूरी ठाकुर की इस नीति ने ही 1990 में मंडल आयोग की सिफारिशों के लिए रास्ता बनाया। मंडल आयोग की सिफारिशों के लागू होने ने भारतीय राजनीति में एक भूकंप ला दिया। इसने ओबीसी (खासकर यादव, कुर्मी, कोइरी) को एक साथ लाकर एक ऐसा राजनीतिक वोट बैंक बना दिया, जिसने बिहार और केंद्र की राजनीति में सवर्णों के एकछत्र वर्चस्व को तोड़कर रख दिया।[11] यह बिहार की राजनीति का एक ऐसा वाटरशेड मोमेंट था, जिसने आज तक के राजनीतिक समीकरणों को परिभाषित किया है।

कानूनी शस्त्रागारः न्याय के ढाँचे और उनके अंतर्विरोध

1. संवैधानिक वादा

भारत का संविधान, जाति आधारित भेदभाव और अत्याचार के विरुद्ध लड़ाई की नैतिक और कानूनी बुनियाद रखता है। अनुच्छेद 14 (विधि के समक्ष समता), अनुच्छेद 15 (धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग के आधार पर भेदभाव का निषेध) और अनुच्छेद 16 (लोक नियोजन में अवसर की समानता) समानता के सिद्धांत की स्थापना करते हैं लेकिन इन सबसे ऊपर अनुच्छेद 17 एक ऐतिहासिक और क्रांतिकारी कदम था, जिसने सीधे तौर पर "अस्पृश्यता का अंत" घोषित किया और इसे एक दंडनीय अपराध बनाया।[12] यह अनुच्छेद सदियों से चली आ रही एक सामाजिक बुराई के खिलाफ संविधान की स्पष्ट और सख्त राय थी। इन्हीं अनुच्छेदों से भविष्य में बनने वाले सभी विशेष कानूनों को बल मिला और सामाजिक न्याय की राजनीतिक माँग को एक कानूनी आधार प्रदान किया।

2. विशिष्ट विधानः इरादे बनाम कार्यक्षमता

A. नागरिक अधिकारों से अत्याचार निवारण तक का सफरः अनुच्छेद 17 के आदर्शों को जमीन पर उतारने के लिए सबसे पहला बड़ा कदम था अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955 (जिसे बाद में सिविल राइट्स एक्ट का नाम दिया गया)। हालाँकि, यह कानून अपेक्षाकृत हल्का साबित हुआ और जातिगत हिंसा और भेदभाव को रोकने में नाकाम रहा।[13] दशकों के संघर्ष और सक्रियतावाद के बाद एक ज्यादा मजबूत और विशेष कानून लाने की जरूरत महसूस हुई, जिसके परिणामस्वरूप अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 (PoA Act) अस्तित्व में आया। इस कानून ने 'अत्याचार' की एक विस्तृत परिभाषा दी, जिसमें सिर्फ छुआछूत ही नहीं, बल्कि दलितों/आदिवासियों को सार्वजनिक रूप से नंगा करना, उन पर मलमूत्र फेंकना, जबरन ज़मीन छीनना, उनकी महिलाओं के साथ शारीरिक शोषण करना, और उन्हें मजबूरी में ऐसे काम करने पर विवश करना जो उनकी सामाजिक गरिमा के खिलाफ हों, जैसी घटनाओं को शामिल किया गया।[14]

B. पीओए एक्टः मुख्य युद्ध का मैदानः यह कानून आज बिहार और देशभर में सामाजिक न्याय की लड़ाई का सबसे विवादास्पद और महत्वपूर्ण हथियार बन गया है। एक तरफ दलित समुदायों के लिए, यह एक जीवनरक्षक कवच है, जो उन्हें सदियों पुराने दमन के खिलाफ कानूनी हक दिलाता है। वहीं दूसरी ओर, सवर्ण और प्रभावशाली तबके अक्सर इसे 'दुरुपयोग' और 'राजनीतिक बदला' लेने के हथियार के तौर पर पेश करते हैं। इस टकराव का सबसे ताज़ा और स्पष्ट उदाहरण है सुभाष काशीनाथ महाजन बनाम महाराष्ट्र राज्य (2018) का मामला। इस फैसले में सुप्रीम कोर्ट ने पीओए एक्ट के तहत तुरंत गिरफ्तारी पर रोक लगाने और एक प्रारंभिक जाँच की अनिवार्यता जैसे प्रावधान जोड़े, जिससे इस कानून की धार कमजोर हो गई।[15] इसके खिलाफ देशव्यापी विरोध प्रदर्शन हुए। इस जनआक्रोश के परिणामस्वरूप, संसद ने तुरंत एक संशोधन पारित कर कोर्ट के फैसले को मम्मिबजपअमसल खारिज कर दिया और कानून की मूल भावना को बहाल किया।[16] यह घटना दर्शाती है कि कैसे कानून सिर्फ कोर्ट की किताबों में नहीं, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक लड़ाई का एक जीवंत मैदान है।

C. राज्य–विशेष और व्यावसायिक कानूनः बिहार जैसे राज्य के लिए, कुछ पुराने कानून आज भी प्रासंगिक हैं। बिहार विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्ति, गृहस्थ किरायेदार और अन्य किरायेदार (उन्मूलन से संरक्षण) अधिनियम, 1947 ने किरायेदारों को जमींदारों के शोषण से कुछ हद तक सुरक्षा दी। वहीं, मैला ढोने वालों के रोजगार का प्रतिषेध और उनका पुनर्वास अधिनियम, 2013 इस कड़वी सच्चाई की याद दिलाता है कि जाति आधारित घृणित और अपमानजनक मजदूरी की प्रथाएँ आज भी जारी हैं। यह कानून दर्शाता है कि कानून बनाना और उसे पूरी तरह से लागू करना दो अलग–अलग चीजें हैं।[17]

3. सकारात्मक कार्यवाई: आरक्षण की बहस

आरक्षण की नीति शिक्षा और सरकारी नौकरियों में समाज के हाशिए के तबकों की भागीदारी सुनिश्चित करने का एक मुख्य उपकरण रही है। इसे 'वितरणात्मक न्याय' (Distributive Justice) का एक जरूरी रूप माना जाता है, जिसका लक्ष्य ऐतिहासिक अन्याय की भरपाई करना और एक समतामूलक समाज की रचना करना है।[18]

हालाँकि, इस नीति पर हमेशा से बहस होती रही है। सबसे बड़ी judicial चुनौती इंदिरा साहनी बनाम भारत सरकार (1992) के मामले में आई, जिसे 'मंडल केस' के नाम से जाना जाता है। सुप्रीम कोर्ट ने इस फैसले में ओबीसी के लिए 27: आरक्षण को तो बरकरार रखा, लेकिन एक नया और विवादास्पद सिद्धांत जोड़ा – 'क्रीमी लेयर'।[19] इस सिद्धांत के मुताबिक, ओबीसी समुदाय के संपन्न और शिक्षित लोगों को आरक्षण के लाभ से बाहर रखा जाना था। इसने ओबीसी एकता में एक दरार पैदा कर दी, क्योंकि अब एक ही जाति के गरीब और अमीर सदस्यों के बीच हितों का टकराव पैदा हो गया। इसने आरक्षण की राजनीति को और भी जटिल बना दिया।

यही वह बिंदु है जो सीधे तौर पर जाति जनगणना की माँग की ओर ले जाता है। आरक्षण के आलोचक और समर्थक दोनों ही यह तर्क देते रहे हैं कि पिछड़ेपन का आकलन सटीक आँकड़ों के आधार पर होना चाहिए। यह माँग इस बहस का एक तार्किक विस्तार है कि पिछड़ापन कैसे मापा जाए और संसाधनों का बँटवारा कैसे किया जाए। बिहार सरकार द्वारा हाल में कराई गई जाति जनगणना इसी सवाल का एक जवाब ढूँढने की दिशा में एक बड़ा कदम है।

एक बदलते परिदृश्य में उभरती चुनौतियाँ

1. नयी राजनीतिक गणित

A. पहचान का राजनीतिक उपयोग: बिहार में सामाजिक न्याय की राजनीति अब अक्सर महज़ चुनावी गणित का एक हिस्सा बनकर रह गई है। राजनीतिक दल जातिगत पहचानों को वोट बैंक के तौर पर इस्तेमाल करते हैं, जहाँ सामाजिक न्याय के सिद्धांतों पर चलने के बजाय उनका खोखला जाप किया जाता है। चुनाव जीतने के लिए, दल कई बार दबाव में आकर कानूनों के सख्ती से पालन करने से पीछे हट जाते हैं या फिर दबाव समूहों के सामने झुक जाते हैं।[20] इसका सीधा असर एससी/एसटी (पीओए) एक्ट जैसे कानूनों के क्रियान्वयन पर पड़ता है, जहाँ राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी साफ देखी जा सकती है। इस तरह, सामाजिक न्याय का असली मकसद चुनावी फायदे की भेंट चढ़ जाता है।

B. जाति जनगणना (2023): एक गेम–चेंजर: साल 2023 में बिहार सरकार द्वारा कराई गई जाति जनगणना के नतीजे एक भूकंप की तरह हैं। इससे पता चला कि राज्य की आबादी में ओबीसी और ईबीसी की संयुक्त हिस्सेदारी 63 प्रतिशत के करीब है।[21] यह आँकड़ा सिर्फ एक संख्या नहीं, बल्कि एक शक्तिशाली राजनीतिक हथियार है। इसने अति पिछड़ा वर्ग (ईबीसी/एमबीसी) जैसे मल्लाह, निषाद, तेली आदि जातियों को एक नई राजनीतिक चेतना और सौदेबाजी की शक्ति दी है। अब वे ओबीसी आरक्षण के अंदर ही अपने लिए एक बड़ा और न्यायसंगत हिस्सा माँग रहे हैं, जिससे ओबीसी गठबंधन के अंदर ही नई दरारें पैदा हो गई हैं और यादव जैसी प्रभावशाली जातियों के वर्चस्व को एक मजबूत चुनौती मिली है।[22] इसने बिहार की राजनीति का पूरा नक्शा ही बदल कर रख दिया है और आने वाले समय में आरक्षण की राजनीति को नये सिरे से परिभाषित करेगा।

2. न्यायिक मोर्चा: कानून की व्याख्या का संघर्ष

न्यायपालिका वह अखाड़ा है जहाँ सामाजिक न्याय के सिद्धांतों की लगातार व्याख्या और पुर्नव्याख्या होती रहती है। इंदिरा साहनी केस (1992) में 'क्रीमी लेयर' की अवधारणा लाकर सुप्रीम कोर्ट ने आरक्षण की नीति में एक बड़ा हस्तक्षेप किया, जिसने ओबीसी समुदाय के भीतर ही एक नई तरह की सामाजिक और राजनीतिक विभाजन पैदा कर दी।[23] वहीं सुभाष काशीनाथ महाजन केस (2018) में पीओए एक्ट की धारों को कमजोर करने का फैसला एक ऐसा उदाहरण है जहाँ न्यायालय का रुख सामाजिक न्याय के मकसद के मुकाबले प्रक्रिया और कथित

दुरुपयोग पर ज्यादा केंद्रित दिखाई दिया।[24] ये फैसले दर्शाते हैं कि न्यायपालिका भी समाज के प्रमुख वर्गों की चिंताओं और दबावों से अछूती नहीं है, और कई बार उसकी व्याख्याएँ सामाजिक न्याय के मकसद से भटक सकती हैं।

3. क्रियान्वयन की खाईः कानून और जमीनी हकीकत का फर्क

बिहार में सामाजिक न्याय के कानूनों की सबसे बड़ी चुनौती उनके अप्रभावी निष्पादन में है। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (NCRB) के आँकड़े बताते हैं कि पीओए एक्ट के तहत दर्ज मामलों में दोषसिद्धि की दर बहुत ही कम है, जो कि लगभग 25–30 प्रतिशत के आसपास ही ठहरती है।[25] इसके पीछे कई कारण हैं, पुलिस बल में जातिगत पूर्वाग्रह का होना (जहाँ अक्सर पुलिसकर्मी प्रमुख जातियों से आते हैं), पीड़ितों और गवाहों को डराना–धमकाना, और मामलों का लंबे समय तक कोर्ट में लटके रहना। राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग (NCSC) की वार्षिक रिपोर्ट्स भी बताती हैं कि पीड़ितों को न्याय दिलाने की प्रक्रिया में लगातार बाधाएँ आती हैं।[26] यह सब मिलकर एक ऐसा माहौल बना देता है जहाँ पीड़ित मामलों दर्ज कराने से भी घबराते हैं, और कानून का डर समाज से खत्म हो जाता है।

4. संघर्ष और पहचान में सामाजिक बदलाव

A. ग्रामीण से शहरीः नए रूपः जातिगत भेदभाव अब सिर्फ गांवों तक सीमित नहीं रह गया है। यह शहरी क्षेत्र में नया रूप लेकर उभर रहा है। अब यह हाउसिंग सोसायटी में किराये के मकान न देना, निजी कंपनियों में नौकरियाँ न मिलना, या फिर निजी विश्वविद्यालयों में छात्रों के साथ होने वाले भेदभाव के रूप में सामने आता है।[27] यह बदलाव दिखाता है कि जाति एक पुरानी सामाजिक संरचना है जो आधुनिक सेटिंग्स में भी खुद को ढालती है।

B. अभिकथन और प्रतिक्रियाः जैसे–जैसे दलित शिक्षा हासिल कर रहे हैं और अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो रहे हैं, वे सदियों पुरानी रूढ़ियों को तोड़ रहे हैं – जैसे घोड़ी पर चढ़कर बारात निकालना या फिर सवर्णों जैसे कपड़े पहनना लेकिन यह अभिकथन कई बार हिंसक प्रतिघात को जन्म देती है। प्रभुत्वशाली जातियाँ अपना वर्चस्व टूटता देख इन कृत्यों को 'चुनौती' के तौर पर लेती हैं और हिंसा का सहारा लेती हैं।[28] यह साबित करता है कि जातिगत पूर्वाग्रह की जड़ें कितनी गहरी हैं।

5. प्रतिच्छेदी कमजोरियाँ

A. जाति और लिंगः दलित महिलाएँ तिहरे उत्पीड़न का शिकार होती हैं – वे जाति, वर्ग और लिंग के आधार पर शोषण झेलती हैं। उनके खिलाफ हिंसा सिर्फ एक व्यक्ति के विरुद्ध नहीं, बल्कि पूरे समुदाय को नीचा दिखाने और डराने का एक उपकरण होती है। उत्तर प्रदेश का हाथरस मामला इसका एक भयावह उदाहरण है, जिसकी गूँज बिहार में भी साफ सुनाई देती है।[29]

B. जाति और वर्गः हालाँकि आर्थिक उदारीकरण के बाद दलित और ओबीसी समुदायों में एक समृद्ध वर्ग उभरी है, लेकिन गरीबी अब भी मुख्यतः जाति से पहचानी जाती है। आँकड़े बताते हैं कि देश की सबसे गरीब आबादी में दलित और आदिवासी समुदायों का हिस्सा सबसे ज्यादा है[30] इसलिए, वर्ग और जाति एक–दूसरे से गहरे जुड़े हुए हैं।

C. जाति और धर्मः दलित मुसलमानों और दलित ईसाइयों की स्थिति और भी जटिल है। उन्हें संवैधानिक रूप से अनुसूचित जाति (एससी) का दर्जा नहीं दिया गया है, भले ही वे सामाजिक और आर्थिक तौर पर उतने ही पिछड़े और भेदभाव का शिकार हैं।[31] यह एक ऐसा सवाल है जो धर्म, जाति और नागरिक अधिकारों के बीच के जटिल संबंध को उजागर करता है।

सैद्धांतिक आधारः संघर्ष की अवधारणा

बिहार में जाति, कानून और सामाजिक न्याय के बीच की जटिल परस्पर क्रिया को समझने के लिए समाजशास्त्रीय सिद्धांत एक महत्वपूर्ण ढाँचा प्रदान करते हैं। ये सिद्धांत केवल सतही घटनाओं का ही नहीं, बल्कि गहराई से चल रहे सामाजिक संघर्षों का विश्लेषण करने में मदद करते हैं।

एंटोनियो ग्राम्स्की का 'वर्चस्व' (Hegemony) का सिद्धांत बताता है कि प्रभुत्वशाली जातियाँ सिर्फ जबरदस्ती या डर से ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और राजनीतिक सहमति बनाकर अपना नियंत्रण बनाए रखती हैं।[32] वे सामाजिक मूल्यों, शिक्षा और मीडिया के जरिए यह विचार फैलाती हैं कि उनकी श्रेष्ठता स्वाभाविक और सही है। इसी कारण निचली जातियाँ भी कई बार इस व्यवस्था को चुनौती नहीं दे पातीं। वहीं पियरे बोर्दियो का 'प्रतीकात्मक हिंसा' (Symbolic Violence) का सिद्धांत इस बात को रेखांकित करता है कि कैसे शोषित समूह अपनी हीनता को इतना आत्मसात कर लेते हैं कि उन्हें यह सामान्य और नियति लगने लगता है।[33] यह हिंसा सीधी नहीं है, बल्कि रोज़मर्रा के व्यवहार, भाषा और रिवाजों के जीतवनही चलती रहती है।

इन दमनकारी संरचनाओं के बावजूद, जेम्स स्कॉट का 'रोजमर्रा का प्रतिरोध' (Everyday Resistance) का सिद्धांत दिखाता है कि बड़े राजनीतिक आंदोलनों से पहले छोटे–छोटे रोज़ के अवज्ञा के कार्य होते हैं।[34] ये कार्य भूमिगत चुटीले गीत, किस्से, काम चोरी, या सवर्णों के आदेशों की अनदेखी के रूप में सामने आते हैं। बिहार के संदर्भ में देखें तो नक्सलवादी विद्रोह से पहले के ये छोटे प्रतिरोध ही बड़े संघर्ष की नींव बने।

इन सभी सिद्धांतों को आधार प्रदान करता है डॉ. भीमराव अंबेडकर का 'जाति–उन्मूलन' (Annihilation of Caste) का क्रांतिकारी विचार।[35] उनका मानना था कि जाति एक ऐसी सामाजिक–धार्मिक संस्था है जिसे खत्म किए बिना कोई भी सच्चा लोकतंत्र या सामाजिक न्याय असंभव है। उनके लिए, कानून और संविधान इस उन्मूलन के लिए एक शक्तिशाली हथियार थे। बिहार में जातिगत संघर्ष और सामाजिक न्याय की पूरी राजनीति, अंबेडकर के इसी केन्द्रीय विचार पर टिकी हुई है और उनका चिंतन इस लेख के लिए आधारभूत सैद्धांतिक रूपरेखा का काम करता है।

निष्कर्ष

एक अधूरे प्रोजेक्ट में न्याय की स्थापना

बिहार में सामाजिक न्याय की यात्रा एक ऐसे गहन विरोधाभास की कहानी है, जहाँ संवैधानिक और कानूनी प्रगति लगातार एक गहराई से जमी हुई और स्वयं को बदल लेने वाली जाति व्यवस्था द्वारा चुनौती दी जाती रहती है। यह लेख इस बात को रेखांकित करता है कि कानूनी प्रावधान, चाहे वे कितने भी मजबूत क्यों न हों, अपने आप में जाति के सामाजिक–आर्थिक–सांस्कृतिक वर्चस्व को खत्म करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। अंबेडकर के शब्दों में, भारत में संवैधानिक स्वराज्य तो आ गया है, लेकिन सामाजिक स्वराज्य अभी भी एक दूर का सपना बना हुआ है।

विश्लेषण से उभरे प्रमुख बिंदु बिहार के बदलते परिदृश्य की जटिलताओं को उजागर करते हैं। पहले, संघर्ष का स्वरूप सवर्ण बनाम दलित/पिछड़े के सरल द्विआधारी से हटकर अब ओबीसी के भीतर ही जटिल अंतर्द्वंद्व (मंडल बनाम मंडल 2.0) का रूप ले चुका है। 2023 की जाति जनगणना ने इस संघर्ष को एक प्रायोगिक आधार प्रदान किया है, जो भविष्य में आरक्षण और राजनीति को फिर से परिभाषित करेगा। तीसरा, न्यायपालिका और विधानमंडल के बीच का खिंचाव (जैसे पीओए अधिनियम को लेकर) दर्शाता है कि सामाजिक न्याय के सिद्धांत हमेशा सर्वसम्मति पर आधारित नहीं होते। और अंतिम, सबसे बड़ी बाधा कानूनों के क्रियान्वयन में आने वाली तंत्रगत खामियाँ (जैसे पुलिसिय पूर्वाग्रह और कम दोषसिद्धि दर) हैं, जो कानून और जमीनी हकीकत के बीच एक गहरी खाई पैदा कर देती हैं।

भविष्य की राहः आगे का रास्ता कई मोर्चों पर काम करने की माँग करता है। भविष्य में शोध और नीतियों को पुलिस और न्यायिक सुधारों पर गंभीरता से ध्यान देना होगा ताकि पीड़ितों को त्वरित न्याय मिल सके। जाति जनगणना के आधार पर कोटों के पुनर्निर्धारण की राजनीतिक पुनर्वार्ता एक अटल राजनीतिक वास्तविकता बनने जा रही है, जिस पर गंभीर अध्ययन की आवश्यकता है साथ ही, जाति, लिंग और वर्ग की प्रतिच्छेदी कमजोरियों को संबोधित करना किसी भी भावी सामाजिक न्याय नीति की कुंजी होगी।

अंततः, बिहार का संघर्ष भारत के सामाजिक न्याय के अधूरे परियोजना का एक सूक्ष्म रूप है। जाति का सवाल, जैसा कि अंबेडकर ने कहा था, भारतीय समाज की मौलिक समस्या बनी हुई है। कानूनी वादे और

वास्तविकता के बीच का फासला अभी भी बहुत बड़ा है। बिहार की गतिशील और लगातार बदलती समाजशास्त्रीय परिदृश्य यही दिखाती है कि जाति का भूत अब भी भारतीय लोकतंत्र की नींव में सिसक रहा है, और इससे मुक्ति का संघर्ष एक गतिशील और निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है।

संदर्भ सूची

1. दलित युवक की पिटाई, मंदिर प्रांगण में घुसने पर आपत्ति, *हिंदुस्तान,* 17 अक्टूबर 2023, https://www.hindustan.in, Accessed 14/07/2025.
2. भारत सरकार, राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) (2022) *क्राइम इन इंडिया,* गृह मंत्रालय, नई दिल्ली, पृ. 123–130।
3. तेलतुम्बड़े, आनंद (2018) *रिपब्लिक ऑफ कास्टः थिंकिंग इक्वलिटी इन द टाइम ऑफ नियोलिबरल हिंदुत्व,* सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ. 56।
4. जाफरेलो, क्रिस्टोफ (2003) *इंडिया'स साइलेंट रिवोल्यूशनः द राइज ऑफ द लोअर कास्ट्स इन नॉर्थ इंडिया,* हर्स्ट एंड कंपनी, लंदन, पृ. 289–310।
5. शर्मा, कृष्ण नन्द (2005) *बिहार की जाति व्यवस्थाः एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य,* बिहार प्रकाशन, पटना, पृ. 45।
6. फ्रैंकल, फ्रैंसिन आर. (1989) कैस्ट, लैंड एंड डॉमिनेंस इन बिहारः ब्रेकिंग द ओपोज़ीशन, इन डॉमिनेंस एंड स्टेट पावर इन मॉडर्न इंडियाः डिक्लाइन ऑफ ए सोशल ऑर्डर, खंड 1, संपादक फ्रैंसिन आर. फ्रैंकल और एम. एस. ए. राव, 86–144, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, पृ. 95।
7. प्रकाश, आमिर (2001) *जमीन, जाति और सत्ताः बिहार में भूमि सुधारों का विश्लेषण,* सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 78।
8. ओमवेट, गेल (1994) *दलित एंड द डेमोक्रेटिक रिवोल्यूशनः डॉ. अम्बेडकर एंड द दलित मूवमेंट इन कोलोनियल इंडिया,* सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 213।
9. भाटिया, भानुप्रताप (2005) द नैक्सलाइट मूवमेंट इन सेंट्रल बिहार, *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली,* 40(15), 1536–1543।
10. जाफरेलोत, क्रिस्टोफ (2003) *इंडिया'स साइलेंट रिवोल्यूशनः द राइज ऑफ द लोअर कास्ट्स इन नॉर्थ इंडिया,* हर्स्ट एंड कंपनी, लंदन, पृ. 298.
11. यादव, योगेंद्र (1996) द मंडलाइज़ेशन ऑफ पॉलिटिक्स, *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली,* 31(39), 2667–2668।
12. बक्शी, पी. एम. (2010) *द संविधान ऑफ इंडियाः एमेजिंग फेक्ट्स एंड प्रोविजन्स,* यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग, नई दिल्ली, पृ. 23।
13. गाल्टर, क्रिस्टोफ (2001) द प्रिवेंशन ऑफ एट्रोसिटीज एक्टः ए स्टडी ऑफ इट्स इम्प्लीमेंटेशन, *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली,* 36(27), 2513–2518।
14. भारत सरकार (1989) द स्केज्यूल्ड कास्ट्स एंड द स्केज्यूल्ड ट्राइब्स (प्रिवेंशन ऑफ एट्रोसिटीज) एक्ट, 1989, धारा ३।
15. सुभाष काशीनाथ महाजन बनाम महाराष्ट्र राज्य, (2018) 6 एससीसी 454।
16. भारत सरकार (2018) द स्केज्यूल्ड कास्ट्स एंड द स्केज्यूल्ड ट्राइब्स (प्रिवेंशन ऑफ एट्रोसिटीज) संशोधन अधिनियम, 2018।

17. प्रसाद, कीर्ति (2015) मैला ढोने की प्रथाः कानून और जमीनी हकीकत, *सामाजिक न्याय बुलेटिन,* 42(2), 10–18।

18. शर्मा, अरविंद (2005) रिजर्वेशन पॉलिसी इन इंडिया, दीप–दीप पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 78।

19. इंदिरा साहनी बनाम भारत सरकार (1992) इंदिरा साहनी आई (1992) 3 एससीसी 217, पैरा फ़ैसला 79।

20. यादव, योगेंद्र (2000) *अंडरस्टैंडिंग द सेकंड डेमोक्रैटिक अपसर्जः ट्रेंड्स ऑफ बहुजन पार्टिसिपेशन इन इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन द 1990, इन ट्रांसफ़ॉर्मिंग इंडियाः सोशल एंड पॉलिटिकल डायनैमिक्स ऑफ़ डेमॉक्रेसी,* संपादक फ्रैंकल एट अल., ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, पृ. 120–145।

21. बिहार सरकार (2023) बिहार जाति–आधारित गणना रिपोर्ट, 2023, सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता विभाग, पटना, पृ. 4।

22. कुमार, संजय (2023) बिहार कास्ट सर्वेः द न्यू नंबर्स दैट आर रीशेपिंग पॉलिटिक्स, *द वायर,* 7 अक्टूबर, https://thewirehindi.com/, Accessed 08/07/2025.

23. इंदिरा साहनी बनाम भारत सरकार (1992) इंदिरा साहनी आई (1992) 3 एससीसी 217।

24. सुभाष काशीनाथ महाजन बनाम महाराष्ट्र राज्य, (2018) 6 एससीसी 454।

25. भारत सरकार, राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) (2022) क्राइम इन इंडिया, गृह मंत्रालय, नई दिल्ली, पृ. 128।

26. राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग (एनसीएससी) (2022) वार्षिक रिपोर्ट 2021–2022, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, नई दिल्ली, अध्याय 4।

27. थोराट, सुखदेव और पॉल अतुवेल (2007) द लेगेसी ऑफ सोशल एक्सक्लूज़नः ए कॉरेस्पॉन्डेंस स्टडी ऑफ जॉब डिस्क्रिमिनेशन इन इंडिया, *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली,* 42(41), 4141–4145।

28. तेलतुम्बड़े, आनंद (2016) कास्ट एंड द एवरीडे इन अर्बन इंडिया, *सोशियोलॉजिकल बुलेटिन,* 65(2), 150–167।

29. कुमार, अनुज (2020) हाथरस सामूहिक बलात्कार–एक लंबा जातीय झगड़ा, एक भयावह अपराध और अचानक दाह संस्कार, *द हिंदू,* 3 अक्टूबर, 2020, https://www.thehindu.com/news/national/other-states/hathras-gang-rape-a-long-caste-feud-a-horrific-crime-and-a-sudden-cremation/article32754625.ece, Accessed on 14/07/2025.

30. विश्व बैंक (2018) इंडिया – डाइमेंशन्स ऑफ़ पॉवर्टी, विश्व बैंक, वाशिंगटन डीसी, पृ. 45।

31. मोहम्मद, आसिफ (2020) द कंडीशन ऑफ दलित मुस्लिम्स इन इंडिया, *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली* 55(12), 34–40।

32. ग्राम्स्की, एंटोनियो (1971) सिलेक्शन फ्रॉम द प्रिजन नोटबुक्स, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क, पृ. 12।

33. बोर्दियो, पियरे (1977) *आउटलाइन ऑफ ए थ्योरी ऑफ प्रैक्टिस,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, पृ. 190।

34. स्कॉट, जेम्स सी. (1985) *वेपंस ऑफ द वीकः एवरीडे फॉर्म्स ऑफ पीजेंट रेजिस्टेंस,* येल यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हेवन, पृ. 29.

35. आंबेडकर, भीमराव (1936) एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, कोलंबिया, पृ. 56।

****